

संपादकीय

कृषि आर्थिक सहायता को आरंभ से ही दोबारा डिजाइन करने की आवश्यकता है क्योंकि जिन्हें इनका लाभ पहुंचना चाहिए उनमें से आधे से अधिक लोगों को इसका लाभ नहीं पहुंचता। उदाहरण के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य के माध्यम से दी जाने वाली कृषि सहायता केवल कुछ क्षेत्रों में और देश के कुछ भागों में कम फसलों के लिए ही है। समर्थन मूल्य का लाभ उन किसानों को भी नहीं मिलता जो अपनी फसल अपने खाने के लिए रखते हैं या जिनके पास बाजार में बेचने के लिए माल नहीं होता क्योंकि उनके पास छोटे-छोटे खेत ही होते हैं। इसलिए हमें उत्पादन सहायता से आय सहायता की पद्धति को अलग करना होगा। आधार कार्ड और जन-धन योजना कार्यक्रम को मिलाना आय सहायता देने की अच्छी शुरुआत है।

हम भारत कृषक समाज की ओर से भी इसी मुद्दे को उठा रहे हैं कि आर्थिक सहायता का लाभ भूमि के आकार के अनुसार दिया जाए ताकि किसानों को लाभ भी मिले और उत्पादन भी बढ़े। किंतु, इसके लिए सबसे पहले भारत की भूमि का सही-सही रिकॉर्ड, भूमि मालिकों की सत्यता और किराए की जमीन पर काम करने वाले किसानों की सत्यता का पता लगाना होगा। भू-राजस्व के रिकॉर्ड को तैयार करना राज्यों का कार्य है और उनके सामने कई समस्याएँ हैं जिनके कारण सभी समस्याओं का कोई समाधान नहीं निकलता। किंतु, इस पुल को पार करने पर ही हम अन्य बाधाओं को दूर करने की आशा कर सकते हैं।

अन्य देशों में अधिकतम फसलों के लिए दिया जाने वाला समर्थन मूल्य भारत से कई गुना अधिक है। उदाहरण के लिए चीन सरकार 2,800/- रु. प्रति क्विंटल कपास उत्पादकों को सीधे आर्थिक सहायता देती है जबकि उन्हें बाजार में इसकी बिक्री करने पर 5,900/- रु. मिलते हैं। यह राशि कुल 8,700/- रु. प्रति क्विंटल बनती है जबकि भारतीय किसान को बाजार में बिकने वाले भाव से आधे से भी कम का समर्थन मूल्य मिलता है।

एक किसान होने के नाते मेरा भी विश्वास है कि व्यापार मूल्य के विकारों की भूमिका बहुत अधिक है क्योंकि मिलने वाली आर्थिक सहायता का परिणाम उस खाते में दी जाने वाली विशाल आर्थिक सहायता की मात्रा के अनुसार होना चाहिए। अमेरिका अपने कपास किसानों को 18,000/- करोड़ रु. आर्थिक सहायता देता है जो विश्व कपास का 12 प्रतिशत उगाते हैं। औसतन यह 66 लाख रु. प्रति किसान बनता है। यदि यह सहायता हटा दी जाए तो कपास का उत्पादन कम हो जाएगा और इसके दाम 25 प्रतिशत तक बढ़ जाएंगे। ऐसा होने पर संभव है कि भारत के 70 लाख कपास उत्पादकों में से प्रत्येक को 26,000/- रु. की अधिक आय होगी।

इस कारण विश्व व्यापार संगठन से करार करना भारत के लिए महत्वपूर्ण है। किंतु बहुत से अनाज आयातक देश, आमतौर पर विकासशील देश, विकसित देशों में आर्थिक सहायता कम करने के इच्छुक नहीं दिखाई पड़ते क्योंकि इसकी कमी से अनाज आयात का मूल्य कई गुना बढ़ जाएगा।

प्रोफेसर विजय पाल शर्मा, कृषि में प्रबंधन के लिए केंद्र, आई.आई.एम. – अहमदाबाद

मैं भारतीय उर्वरक क्षेत्र का संक्षिप्त विवरण देना चाहूँगा ताकि हाल ही में जो कुछ हो रहा है और इस विषय पर जो चिंता व्यक्त की गई है उनमें संपर्क हो सके। मैं उर्वरक आर्थिक सहायता के वाद-विवाद पर बल देना चाहूँगा। मेरा विचार है कि वाद-विवाद में दो महत्वपूर्ण मुद्दों पर ही बात होती है कि राजनैतिक गलियारों में भी यही बात, मीडिया में भी यही बात और शैक्षिक क्षेत्रों में भी इसी पर चर्चा होती है। पहला मुद्दा यह है कि आर्थिक सहायता से किसानों या उद्योग को या बड़े किसानों या छोटे किसानों को लाभ पहुंचता है अथवा जीविका कमाने वाले किसान बनाम वाणिज्यिक किसान को। हमें इस मुद्दे पर पहले, और इसके पश्चात यदि हम यह मान लें कि उर्वरक आर्थिक सहायता पूरी तरह समाप्त या कम कर दी जाए तो किसानों और खाद्य सुरक्षा की क्या स्थिति होगी? अंत में मैं कुछ नीति रूकावटों के बारे में बात करूँगा। मेरा विचार है कि हाल ही के वर्षों, शायद एक – डेढ़ दशक पहले यह गलत धारणा थी कि घरेलू उपभोग और उत्पादन एक ही समान हैं। इस धारणा पर विचार तो बहुत हुआ किंतु पिछले 2 दशकों से उत्पादन स्थिर है, इस कारण से आयात पर निर्भरता अधिक हो चुकी है जिस कारण हमें अस्थिर बाजार में महंगे दामों पर आयात करना पड़ता है। उर्वरक के मूल्यों से पता चलता है कि वे कितने बढ़ चुके हैं और इसी प्रकार से बाजार भी अस्थिर है, इन पर विचार करना और राष्ट्रीय संख्या पर विचार करना भी महत्वपूर्ण है। मैं यह मानता हूँ कि इससे आपको सपष्ट तस्वीर नहीं मिलेगी। अतः हम राष्ट्रीय संख्या के बारे में यह कहेंगे की औसतन उर्वरक का उपयोग सही मात्रा में हो रहा है। किंतु, इसकी विभिन्नता बड़े-बड़े क्षेत्रों में अलग है, जैसे कतिपय क्षेत्रों में उर्वरक का अत्यधिक और कुछ क्षेत्रों में कम उपयोग हो रहा है। जैसा आप उर्वरक के असमान उपयोग से देख सकते हैं कि एन.पी.के. का अनुपात 4:2:1 है, यह विशाल संख्या ही है। इस पर भी मूल्य नीति के संबंध में वाद-विवाद उत्पन्न होता है जो उर्वरक के उपयोग को बढ़ाने में महत्वपूर्ण है। लेकिन यह राज्य से राज्य और किसी एक राज्य के एक क्षेत्र में कुछ और उसी के अन्य क्षेत्रों में भिन्न होगा। पिछले दशक के शुरू में ही प्रोटीन उपभोग लगभग डेढ़ मिलियन टन था जो कि पोषक उपभोग के रूप में लगभग 14.4 बिलियन टन बनता है और यह काफी कम था जबकि आयात पर हमारी निर्भरता केवल 10 प्रतिशत थी। इसका उपभोग वर्ष 2010-11 तक 28 मिलियन टन पहुंचा था इसके पश्चात कुछ कमी आई, किंतु घरेलू उपभोग और उत्पादन के बीच बहुत अधिक अंतर है। चिंताजनक यह है कि उर्वरक आयात पर हमारी निर्भरता अस्थिर है और जब आपको विश्व बाजारों से सामना करना पड़ता है तो घरेलू स्थितियां और आर्थिक सहायता के मूल्यों का महत्वपूर्ण भाग होता है। हम संख्या और प्रति हैक्टेयर के उपभोग से देखें तो औसतन उपभोग अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है, जैसे पाकिस्तान में 180 और भारत में केवल 160 तथा बंगलादेश में 298 है, इससे भी स्पष्ट होता है कि हम उर्वरक के उपयोग में संतुष्ट हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता की हम उर्वरक का अत्यधिक उपयोग कर रहे हैं। लेकिन भारत एक बहुत बड़ा देश है और हमें अस्पष्ट तस्वीर को देखने की आवश्यकता है जिसके लिए हमें प्रत्येक जिला स्तर पर देखना होगा कि वे उर्वरक का कितना उपयोग कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, कुछ जिलों में जहां 200 ग्राम से अधिक उर्वरक का उपयोग किया जा रहा है। इस कारण हम मान लेते हैं कि औसतन इतनी मात्रा का ही उर्वरक का उपयोग किया जा रहा है, जबतक कि हमें इससे अधिक मात्रा का पता नहीं चल जाता। उदाहरण के लिए पिछले दशक के पहले भाग में केवल 5 जिलों में ही प्रति हैक्टेयर 200 ग्राम उर्वरक से अधिक उपयोग किया जा रहा था और अब यह संख्या बढ़कर 135 जिले हो गई है जो कि लगभग सभी जिलों का 25 प्रतिशत है। इस कारण चिंताजनक विषय सबसे ऊपर ही है। उर्वरक का अत्यधिक उपयोग है, इसके साथ ही

दूसरी चिंता यह है कि निम्न स्तर पर 50 कि.ग्रा. से कम उर्वरक का उपयोग किया जाता है। यदि निम्न स्तर पर देखें तो वर्ष 1980 के दशक के अंत में आधे से अधिक जिले 8 कि.ग्रा. उर्वरक से कम उपयोग कर रहे थे। उन जिलों में भी इसका उपयोग बढ़ा है किंतु आज भी 17 से 18 प्रतिशत जिले 50 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर से कम उपयोग कर रहे हैं जो कि काफी कम है। अतः हमारी नीति दो मुद्दों पर ही केन्द्रीत होनी चाहिए पहली उर्वरक का अत्यधिक उपयोग भूमि और जल पर विपरीत प्रभाव डालता है। नीति ऐसी बनानी चाहिए जिसमें उर्वरक का अत्यधिक उपयोग न हो लेकिन उसी नीति के अंतर्गत जिन जिलों में इसका उपयोग कम है वहां इसे बढ़ाया जाए जैसे देश के पूर्वी भाग जिनमें कृषि उत्पादन का व्यापक अवसर है किंतु उचित तकनीक या अच्छे उपकरण न मिलने के कारण वहां उत्पादन नहीं हो पाता। जब हम उर्वरक उपभोग की बात करते हैं तो हमें सिंचाई, अच्छी गुणवत्ता के बीजों की उपलब्धता पर विशेष ध्यान देना होगा। इस प्रकार हमें संयुक्त नीतियां बनानी होंगी न की केवल उर्वरक पर ही ध्यान देना होगा।

मैं इसके उपयोग 4:2:1 का ही उल्लेख नहीं कर रहा बल्कि मैं कहना चाहता हूँ जो भी अच्छे काम हुए हैं, तो एक नीति से ही सभी कार्य अच्छे हो सकते हैं जैसे की उर्वरक का क्षेत्र है। वर्ष 1991 के आरंभ में पहली नीति की रूकावट यह थी की बाह्य सुधार करते समय पोटैश और फॉस्फोरस को तो आंशिक नियंत्रण मुक्त किया लेकिन नाइट्रोजन पर नियंत्रण था। नाइट्रोजन के मूल्य तो लगभग वही रहे लेकिन पी. और के. के मूल्य बहुत अधिक बढ़े। इसी प्रकार वर्ष 2011-12 में जब हमने पौष्टिक आधारित आर्थिक सहायता देनी आरंभ की तो फॉस्फेट और पौटेशियम उर्वरक के मूल्य कई गुना बढ़े, लेकिन यूरिया के मूल्य लगभग वही रहे। उदाहरण के लिए वर्ष 1991-92 में एन.पी.के. का अनुपात 6:2.9:1 था वह 9.5:3:1 हो गया और इसको सरकार ने महसूस किया और आर्थिक सहायता देने से एन.पी.के. का अनुपात पिछले दशक के अंत में बराबर हो गया। वर्ष 2011-12 में आपके अच्छे निर्णय से पी. और के. यूरिया को नियंत्रण मुक्त किया और यूरिया अपने कंट्रोल में रखा। इस एन.पी.के. के अनुपात में वृद्धि हुई और यह 4.7:2.3:1 से 6.7:3:1 और वर्ष 2013 के आरंभ में अनुमान है कि यह 8.7:3.4:1 होगा। इसका अर्थ है कि जब आप कोई नीति तैयार करें तो आपको इस नीति का दीर्घकालिक प्रभाव देखना चाहिए और इससे यह भी प्रतीत होता है कि मूल्य परिवर्तन से किसान बहुत ज्यादा प्रभावित होते हैं। यदि किसी विशेष उत्पाद का मूल्य बढ़ता है तो किसान इसका उपयोग कम कर देते हैं और मूल्य परिवर्तन से ही ऐसा होता है। किसी ने भी पांच वर्षों में इतने परिवर्तन की आशा नहीं की थी, उदाहरण के लिए डी.ए.पी. 9,350/- रु. प्रति मैट्रिक टन से बढ़कर 26,000/- रु. प्रति मैट्रिक टन हो गया और इसमें यदि कोई आर्थिक सहायता नहीं हो तो डी.ए.पी. के मूल्य 35 से 39 हजार प्रति मैट्रिक टन हो जाएंगे। क्या यह खरीदने योग्य है ? छोटे और मझौले किसान तो क्या बड़े किसान भी नहीं ले सकते। यदि उर्वरक का मूल्य 40,000/- रु. प्रति मैट्रिक टन है तो कोई भी उर्वरक की खरीद करके लाभ अर्जित नहीं कर सकता।

यदि पौटेशियम की बात करें तो इसकी स्थिति भी वैसी है। इसकी आर्थिक सहायता को शामिल किया जाए तो इसका मूल्य 38-39,000/- रु. तक जाएगा। वर्ष 2012-13 में इसमें कमी आई तो नीतियों में बाह्य पौष्टिक प्रकार के तत्वों हेतु पी. और के. पर ध्यान दिया गया जबकि हमने बाह्य पौष्टिकता को पूरी तरह नजरअंदाज किया और दूसरे स्तर के पौष्टिक तत्वों को भी नजरअंदाज किया और इन पौष्टिकताओं की कमी से बड़ी समस्या आ सकती थी। लेकिन जल्दी ही 2 या 3 पौष्टिक तत्वों पर ध्यान दिया गया जैसे जिंक, बोरॉन (काला पदार्थ) और एक अन्य बाह्य पौष्टिक तत्व को भी नीति में शामिल किया गया। किंतु अब इन्हें बाहर कर दिया गया है। इस कारण हमें एक ऐसी नीति तैयार करनी चाहिए जो न केवल उर्वरक के लिए लाभदायक सिद्ध हो बल्कि जैविक उर्वरक के लिए भी महत्वपूर्ण हो। उर्वरक नीति तैयार करते समय जैविक उर्वरक, गैर-जैविक उर्वरक और बाह्य पौष्टिक तत्वों पर भी ध्यान देना चाहिए। यह सबसे अधिक विवादपूर्ण विषय है और वास्तव

में मैंने मीडिया की भूमिका का उल्लेख किया था। किंतु यदि हमारी नितियां अच्छी नहीं होंगी, वह मीडिया से प्रभावित हैं जैसा मीडिया में वाद-विवाद दिखाया जाता है। दूर्भाग्यवश हमारे व्यावसायिक भी कार्यकर्ता बन चुके हैं और प्रायः यह देखा जाता है कि कतिपय मुद्दों पर चैनलों पर वाद-विवाद होता है जो कि अलग-अलग लोगों के ज्ञान और सूचना पर आधारित होता है जिसका कोई प्रयोगात्मक साक्ष्य नहीं होता। अधिकतम लोग इस प्रकार की चर्चाओं को देखते हैं जिससे नीति पर विशेष प्रभाव पड़ता है जो कि दूर्भाग्यपूर्ण है। यह पूरा वाद-विवाद 1990 के आरंभ में शुरू हुआ था और डॉ० अशोक गुलाटी ने शुरुआत की थी इसके बाद 1990 के दशक के मध्य में डॉ० गुलाटी और शर्मा ने अध्ययन किया और उन्होंने 3 प्रमुख आधार बताए। पहला उन्होंने घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों की तुलना की। 1990 के दशक में भारत उर्वरकों का अधिक आयात नहीं करता था, विशेषकर यूरिया का। हम लगभग 100 प्रतिशत तक आत्मनिर्भर थे। चीन भी बड़ी मात्रा में आयात नहीं करता था, इस प्रकार भारत और चीन दो प्रमुख साथी थे और जब ये दोनों बाजार में प्रवेश करते हैं तो बाजार भाव बढ़ते हैं। 1990 के दशक में यूरिया का मूल्य बहुत कम था और उन्होंने उसका मूल्य तो देखा और इसकी घरेलू मूल्यों से तुलना की तथा विभिन्न गणना करने के बाद अंतर का पता चला की आर्थिक सहायता केवल निर्माताओं को ही जाती है। उनका अनुमान था कि यूरिया का मूल्य 100 से 200 के बीच जाएगा। यह सीमित मूल्य के अंदर ही होता। किंतु यदि वास्तविक मूल्य देखें तो यूरिया के मूल्य 550 तक बढ़ गए तथा कई मामलों में इससे भी अधिक। दूसरा, विश्व उर्वरक का बाजार प्रतिस्पर्धात्मक था और उसमें कोई कार्टल या किसी की मोनोपॉली नहीं थी। लेकिन यह सत्य नहीं है क्योंकि यह उद्योग बहुत बड़े लोगों, तथा जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी और उन्होंने इसी उद्योग पर विशेष ध्यान दिया। तीसरा अनुमान उनका यह था कि भारत एक छोटा देश है जिसका अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा लेकिन ऐसा नहीं था क्योंकि भारत ने जब-जब विश्व व्यापार के बाजारों में प्रवेश किया तो जिसे महंगी हुई और उन्होंने वास्तविक तस्वीर को देखे बिना वाद-विवाद आरंभ किया। इस कारण हम कह सकते हैं कि जो कुछ हो रहा है और यह तीनों धारणाएँ सत्य धारणाएँ नहीं हैं, जहां तक कि आज भी ये सत्य नहीं है। दूसरा, आर्थिक सहायता केवल बड़े किसानों को ही जाती है, यह वाणिज्यिक किसानों को ही जाती है इन दो मुद्दों पर हमें ध्यान देना होगा। यदि प्रमुख उर्वरक कंपनियों को देखा जाए तो उनका एन.पी. और के. उर्वरको पर मजबूत कार्टल है जबकि भारत एक छोटा देश है जिसका अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों पर प्रभाव नहीं पड़ता है। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों और भारत के आयात का निकट संबंध है। 1990 दशक के मध्य में भारत आयात नहीं कर रहा था और अंतर्राष्ट्रीय मूल्य 20 अमरीकी डॉलर प्रति मैट्रिक टन थे। भारत ने 2004-05 से आयात आरंभ किया और मूल्यों में वृद्धि हुई। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों पर भारत का महत्वपूर्ण प्रभाव है और यह केवल उर्वरक के लिए ही नहीं बल्कि चीनी पर भी लागू होता है। जब-जब भारत ने अंतर्राष्ट्रीय बाजार से चीनी खरीदी, इसके मूल्य बढ़े और पिछले दशक में भी गेहूं का आयात करने पर मूल्य बढ़ा था। अतः भारत जब भी विश्व बाजार में प्रवेश करता है तो इसका प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह नहीं मानना चाहिए की विश्व बाजार में भारत के आने से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में ऐसा होने से हमें आत्मनिर्भर बनने का विकल्प चाहिए न की आयात करने का विकल्प होना चाहिए, इस विषय पर कई अर्थशास्त्री बहस अवश्य करेंगे।

दूसरा, केन्द्रीकरण, देश में केन्द्रीकरण अत्यधिक मात्रा है। यदि आप लगभग 10 उच्च राज्यों को देखें जो 85 प्रतिशत उर्वरक का उपयोग करते हैं वहां केन्द्रीयकरण की अधिक मात्रा है। इसके पश्चात यदि फसलों पर नजर डालें तो चावल, गेहू, चीनी और कपास की फसलों में लगभग 80 प्रतिशत उर्वरक उपयोग किया जाता है। यदि राज्यों पर निगाह डालें तो वहां राज्यों में सभी किसान बड़े नहीं हैं वहां सभी प्रकार के छोटे और मझौले किसानों की संख्या अधिक है। इसी प्रकार से सभी किसान चावल और कपास नहीं उगाते वहां कुछ

फसलों पर ही ध्यान दिया जाता है। किंतु हम, ध्यान कहां दिया जाता है इसके इच्छुक नहीं हैं बल्कि हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि क्या इससे छोटे किसान प्रभावित होते हैं या नहीं। विभिन्न वर्गों में उर्वरक का उपयोग भी अलग से हो रहा है और यह रूझान पिछले 15-20 वर्षों से है। मझौले किसान प्रति हैक्टेयर 140 कि.ग्रा. और बड़े किसान केवल 68 कि.ग्रा. उर्वरक का ही उपयोग करते हैं। छोटे किसान बड़े किसानों की तुलना में अधिक उर्वरक का उपयोग कर रहे हैं। इसका अर्थ है कि प्रति हैक्टेयर पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता बड़े किसानों की तुलना में छोटे और मझौले किसानों को जाती है। इसके लिए सरकार को कुछ निर्णय लेना होगा। दूसरा विषय है कि इन छोटे और मझौले किसानों के पास कितनी भूमि है और उर्वरक उपभोग में उनका कितना भाग है। उदाहरण के लिए मझौले किसान सिंचित क्षेत्र का 25 प्रतिशत भाग रखते हैं लेकिन वह 29 प्रतिशत उर्वरक का उपभोग करते हैं। छोटे किसानों के पास सिंचित क्षेत्र 21 प्रतिशत है और उर्वरक का उपयोग लगभग 25 प्रतिशत करते हैं। इस प्रकार आर्थिक सहायता बड़े किसानों की तुलना में छोटे और मझौले किसानों को अधिक मिलती है। एक अन्य मुद्दा यह है कि किसानों को आर्थिक सहायता की राशि सीधे दे दी जाए लेकिन इसका कोई स्पष्ट तर्क नहीं है। मूल बहस का विषय लीकेज, उद्योग में व्यापक भ्रष्टाचार का स्तर मुख्य विषय है यदि भ्रष्टाचार नहीं रोका जाता तो इसे राष्ट्रीय स्तर पर लाना अति कठिन है। इसके अतिरिक्त, अनौपचारिक किराएदार, जो किराए की जमीन पर खेती करते हैं उनका भूमि पर कोई कानूनी अधिकार नहीं है। उन किसानों का क्या होगा। इसके अतिरिक्त, वे अपने लिए कार्यशील पूंजी कहां से लाएंगे क्योंकि तीन से चार गुना बढ़ जाएगी। यदि उर्वरक पर आर्थिक सहायता न दी जाए और इसके मूल्यों को ध्यान में रखते हुए कोई भी किसान उम्मीद नहीं कर सकता कि वह खेती से कुछ कमा लेगा। इस प्रकार देश के 140 मिलियन घरों की देखभाल करने संबंधी तीन विषय अति कठिन हैं। किराए की जमीन पर खेती करने वालों के लिए भी कोई पद्धति नहीं है और इस कार्यशील पूंजी में आने वाली बाधाओं से कैसे निपटा जाएगा। क्या ऐसा हो सकता है कि पहले किसान पैसा लगाएं और उसके बाद इसकी प्रतिपूर्ति प्राप्त करें। साथ ही आप किस मूल्य को आधार मानोगे क्योंकि प्रत्येक तिमाही में उर्वरक के मूल्य बदलते रहते हैं। इस प्रकार कई तरह के वास्तविक मुद्दे हैं।

यदि मान लिया जाए कि डॉ० रमेश चांद के अनुसार आर्थिक सहायता पूरी तरह से वापिस ले ली जाए तो खाद्य उत्पादन 15 प्रतिशत तक कम हो जाएगा। यह बहुत बड़ी कमी होगी और इसका प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय बाजारों पर भी पड़ेगा। यदि हम चावल, गेहूं और मोटे अनाज की बात करें तो पंजाब, हरियाणा, बिहार और झारखंड के किसानों को लाभ ही नहीं मिलेगा। तो क्या आप यह आशा करते हैं कि किसानों को लाभ न हो। गेहूं में फिर भी कुछ संभावना है लेकिन उनकी शुद्ध आय देखें तो वह 30 प्रतिशत है और महाराष्ट्र के किसानों के लिए यह नकारात्मक हो जाएगी। इसी प्रकार से उत्तर प्रदेश और हरियाणा के किसानों को भी आय नहीं मिलेगी क्योंकि किसान इन फसलों का उत्पादन ही नहीं करेंगे और वह राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की राह देखेंगे ताकि वह इन अनाजों को 3,2 और 1 रू. में खरीद सकें तो इनकी मांग की पूर्ति कहां से होगी। मेरा मानना है कि ये बहुत बड़े मुद्दे हैं। ज्वार की भी यही स्थिति होगी, हम संख्या के बारे में तो वार्तालाप कर सकते हैं। यह सत्य है कि इस प्रकार की आर्थिक सहायता लगातार नहीं दी जा सकती, इसके लिए वित्तीय संकट की समस्या आएगी और हमें कोई और समाधान ढूँढ़ना होगा। पहला मुद्दा है घरेलू उत्पादन और उपभोग की दूरी और आयात पर बढ़ती हुई निर्भरता। जैसा मैंने कहा अस्थिर बाजारों में जोखिम अधिक होता है इसके लिए उर्वरक आर्थिक सहायता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जिससे किसानों को लाभ मिल रहा है। इससे उत्पादन बढ़ता है लेकिन उत्पादन लागत कम आती है। कुछ लोग बहस करते हैं कि यदि उर्वरक मूल्य बढ़ाकर किसानों के खरीद मूल्य बढ़ा दिए जाएं तो उनकी सहायता हो सकती है। यहां यह ध्यान रखना होगा की सभी किसान

अपनी फसलें बेचने के लिए बाजार में नहीं लाते। अधिकतम किसान आत्मनिर्भर हैं या वह अपनी आवश्यकता अनुसार बाजार से खरीद लेते हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी की यदि उर्वरकों का मूल्य बढ़ता है तो वह उर्वरक का कम उपयोग करेंगे और वह अपने लिए ही उत्पादन करेंगे और यदि आवश्यकता हुई तो वह बाजार से खरीद लेंगे। इस कारण यह समझना चाहिए की उर्वरक और खरीद मूल्य तो पहले ही अधिक हैं इनका लाभ कुछ किसानों को ही मिलेगा जो अपना माल बाजार में बेचते हैं।

आर्थिक सहायता कुछ फसलों के लिए और कुछ राज्यों में ही दी जाती है लेकिन इसका अधिकतम लाभ छोटे और मझौले किसानों को होता है और आर्थिक सहायता वापिस लेने से कुछ राज्यों में खेती कम लाभकारी और अधिकतम राज्यों में यह अलाभकारी बन जाएगी। इसलिए आर्थिक सहायता बनाए रखने की आवश्यकता है, हालांकि सरकारी राजस्व पर अधिक बोझ पड़ता ही है। अधिक यूरिया के उपयोग के स्थान पर उर्वरक आर्थिक सहायता में कमी करने का भी मुद्दा है। मेरा मानना है कि एक अच्छा विकल्प फसलों का लक्ष्य देने और राशनिंग पद्धति हो सकता है। जब हम बेहतर मूल्य की बात करते हैं तो दोहरे मूल्य का महत्व बढ़ जाता है लेकिन यह कभी सफल नहीं होता। इसका कारण यह है कि देश में विभिन्नताएँ हैं और भ्रष्टाचार व्यापत हैं लेकिन राशनिंग अच्छा विकल्प है। जब कारगर भूमि रिकॉर्ड तैयार हो जाएगा तो यदि किसी किसान को तीन बोरी यूरिया या डीएपी चाहिए तो वह चार या पांच बोरी नहीं खरीदेगा। किंतु इसके लिए भूमि का रिकॉर्ड होना और इसे सही ढंग से आंकना जरूरी है। राशनिंग और दोहरी मूल्य नीति में से राशनिंग का बेहतर विकल्प है और राजनैतिक रूप से भी सीधे आर्थिक सहायता देना अधिक सविकार्य है। लेकिन समानता लाना बहुत सरल और स्पष्ट नहीं है, इस कारण इसे लागू करना भी आसान नहीं है। इसलिए इस विकल्प को छोड़ देना चाहिए। केवल उर्वरक के मूल्यों को समान रूप से लागू करने की आवश्यकता है, विशेषकर यूरिया के मूल्यों को। डॉ० रमेश का कहना है कि कतिपय राज्यों में अत्यधिक यूरिया और कुछ राज्यों में कम यूरिया का उपयोग होता है। हरियाणा, तमिलनाडु और आंध्रप्रदेश में उर्वरक का अधिक उपयोग होता है, वहां पर उर्वरक के मूल्यों में समानता लाने की आवश्यकता है। मेरा सुझाव है कि यूरिया के मूल्य बढ़ाने से जो पैसा मिले उससे पी. और के. को आर्थिक सहायता दी जाए इससे सभी उर्वरकों के मूल्यों में समानता लाने में कुछ तो सहायता मिलेगी। हमें घरेलू उत्पादन बढ़ाने की भी आवश्यकता है इसमें कोई विवाद नहीं है लेकिन इसके लिए एक दृढ़ और स्थिर नीति बनाने की भी आवश्यकता है। आप कभी एक नीति कभी दूसरी नीति नहीं बना सकते। कभी-कभी आप किसी विषय पर अंतिम निर्णय लेकर नीति बना देते हैं लेकिन उसी नीति को जल्दी रद्द कर देते हैं। स्पष्ट शब्दों में, अगले 15-20 वर्षों के लिए स्थिर नीति बनाने की आवश्यकता है ताकि उस नीति के लिए उद्योग जगत का विश्वास बने और वह इसमें निवेश करे।